राष्ट्र की अवधारणा और आधुनिक राष्ट्रवादी : बंकिमचन्द्र चटर्जी के विशेष सन्दर्भ में

बीज शब्द : राष्ट्र, राष्ट्रवाद, बंकिम चन्द्र चटर्जी, आनन्द मठ।

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net

A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research

शोध संचयन

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। समय के साथ यह समृद्ध भी हुआ है। सुप्रसिद्ध लेखक बंकिम चन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित उपन्यास 'आनन्द मठ' भारतीय संस्कृति एवं देश भक्त का एक पर्याय बन गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में शोधार्थी ने आनन्द मठ एवं उसके गीत 'वन्देमातरम्' के माध्यम से व्यक्त राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक प्रभाव का विश्लेषण किया है।

डॉ. पवन कुमार शर्मा
आचार्य एवं अध्यक्ष,
राजनीतिशास्त्र विभाग,
अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय,
भोपाल।

विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है भारतीय संस्कृति। युग-युगीन परम्पराओं ने इसका विकास किया और इसे समृद्धि प्रदान की प्रकृति ने भी भारत को एक पृथक राष्ट्र बनाया।[1] यद्यपि इसको अनेक विभाजनों ने विभिन्न आकारों में विभाजित किया है, किन्तु फिर भी इसकी विशेषता को कमतर नहीं आंका जा सकता।[2] हजारों वर्ष पूर्व लिखित विष्णुपुराण ने भी इसकी सीमाओं का विभाजन और उनका वर्णन प्राकृतिक रूप से उपलब्ध प्रतीकों के आधार पर ही किया था।

यथा-

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारती यत्र त्र सन्तति:।।[3]

यानि, जो समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित है वह देश भारतवर्ष कहलाता है, उसमें भारत की सन्तान निवास करती है। यह पुत्र एवं माता का जो भाव है उसने इसे विभिन्न जाति, वर्ण, भाषा होने के बाद भी एक सूत्र में बाँध कर रखा और इस भाव को वेदों ने ''माता भूमि: पुत्रेडहम् पृथिव्या:[4], यानी यह जो भारत-भूमि है यह मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। इसी के वशीभूत भारत-भूमि पर जो संस्कृति विकसित हुई, वह संस्कृति भारतीय संस्कृति के नाम से जगद्विख्यात हुई। यहाँ पर यह भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है कि अन्तत: संस्कृति होती क्या है? ज्योतिर्मठ बद्रिकाश्रम के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द के शब्दों में 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि भूषणयुक्त सम्यक् कृति। इसलिए भूषणयुक्त सम्यक कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार भूषणयुक्त सम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है।[5] इस प्रकार से हिमालय से समुद्रपर्यन्त जो भी क्रिया-कलाप सम्पादित किए गए वे संस्कृति का हिस्सा बनते गए। सबसे अच्छी बात यह रही कि संस्कृति में उन्हीं तत्वों को समाविष्ट किया गया जोकि सम्यक् थे, शेष तत्वों को विलग कर दिया गया और समान मूलतत्वों को समाविष्ट करके एक धारा बहती रही। भारतरत्न पुरुषोत्तम वामन काणे लिखते है कि, ''ऋग्वेद'' के काल से अब तक चली आई अत्यन्त विलक्षण धारणा यह रही है कि मूलतत्त्व एक है, भले ही लोग उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि किसी भी नाम से क्यों न पूजित करें। महाभारत, पुराण, संस्कृत काव्य के काल एवं मध्य काल में जबकि विष्णु, शिव या शक्ति से सम्बन्धित बहुत से सम्प्रदाय थे, सभी हिन्दुओं (भारतीय, इस शब्द पर मेरा स्वयं का जोर है, क्योंकि आधुनिक काल में यह शब्द सही अर्थों में सर्वसमावेशी है और

पौराणिक महत्त्व को भी प्रदर्शित करता है।) में यहाँ अन्तश्चेतना थी कि ईश्वर एक है, जिसके कई नाम है।[6] यही भाव था जिसने सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैविध्य का पोषण किया, यह वैविध्य चाहे किसी भी क्षेत्र में हो, भारतीयों ने न केवल उसको स्वीकारा, बल्कि उसको अपने जीवन का अभीष्ट भी बना लिया, परिणामस्वरूप उसने सम्पूर्ण सृष्टि में ही ईश्वर का दर्शन शुरू किया।[7] यही विशेषता भारतीय संस्कृति की आत्मा है। जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता गया वैसे-वैसे भारतीय संस्कृति का व्याप भी बढ़ता गया और उसी प्रकार से विस्तृत होता चला गया भारतीय संस्कृति का वांग्मय। परिणामस्वरूप" मनुष्य के लौकिक- पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।[8] ऐसा इसलिए भी सम्भव हो सका, क्योंकि इसमें 'सर्वभूतहिते रत:' को अपना मूलमंत्र मानकर विचार किया गया है। इस भाव ने संपूर्ण आर्यावर्त को एक सूत्र में गूँथकर रखा और यही दृष्टि 'राष्ट्रवाद' के पोषण में सहायक सिद्ध हुई। फलत: हिमालय से लेकर सिन्धु तक समस्त तत्वों में एकात्मभाव का उदय हुआ। इस एकात्मभाव ने संस्कृति आधरित सभ्यता का विकास किया और राष्ट्रवाद को भी सुदृढ़ता प्रदान की।

संस्कृति का आधार-

संस्कृति का आधार सामान्यत: मनुष्य के द्वारा सम्पादित आचार-विचार हैं ये आचार-विचार वेदादि शास्त्रों पर अवलम्बित होते हैं। अत: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसके अनुरूप किए जाने वाले कार्य संस्कृति के प्राणतत्व होते हैं। इन प्राणतत्वों के पोषण के लिए कुछ यम-नियमों का निर्धारण किया गया। वर्णाश्रम व्यवस्था ने इसमें बहुत ही सकारात्मक भूमिका का निर्वहन किया। मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, कलाकौशल, भाषा, वेशभूषा, उपासना आदि समस्त क्रियाकलाप वर्णाश्रम अनुकूल हों तो यही भारतीय संस्कृति का आधार है। बाद में इसी के आधार पर समस्त आर्यावर्त को ध्यान में रखकर साहित्यसृजन किया गया है और भारतीय जनमानस में ये समस्त विचार गहरे तक पैठ गए। जैसे-जैसे भारतीय संस्कृति विकसित होती गई वैसे-वैसे सम्पूर्ण आर्यावर्त में विभिन्न स्थानों पर विद्यमान स्थलों को अपने दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी मानकर उसे सम्मानित स्थान दिया जाने लगा।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेस्मिन्, सन्निधिं कुरु।।[9]

भारत भू-भाग की सातों महानदियाँ जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण भारत से है, का स्मरण स्नान करते समय प्रत्येक भारतीय अपना परम कर्तव्य मानता है और ऐसा करके वह सम्पूर्ण भारत की समस्त नदियाँ, जो कि इन नदियों के माध्यम से समुद्र में समाहित हो जाती है, के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

महेन्द्रो मलय: सह्य: शक्तिमानृक्षपर्वत:।
विन्ध्यश्च पारियत्रश्च सप्तैते कुलपर्वत:।।[10]

ये सभी पर्वत भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं और पर्यावरण का भी संरक्षण करते हैं। साथ ही साथ वर्षा के जल को अपने में समाकर वर्षपर्यन्त नदियों में जल के स्राव से भारतीयों के जीवन में जल की उपलब्धता बनाए रखते हैं। इस प्रकार से भारतीय इनके साथ न केवल तादात्म्य स्थापित करते हैं, बल्कि इनके प्रति अपनी कृतज्ञता भी ज्ञापित करते हैं। यह कृतज्ञता उनमें राष्ट्रभाव का पोषण करती है। इसी प्रकार प्रात:काल जब भारतीय शय्या का त्याग करता है तो इस भूमि से वह इस प्रकार अभ्यर्थना करता है कि-

'समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तन मण्डले,
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।'[11]

यानि, हे भूमि माता! आप विष्णु की पत्नी हैं मैं दिनभर आपको अपने पैरों से स्पर्श करूँगा अत: आप इस कृत्य के लिए क्षमा करें। जिस समाज का भाव इसी भूमि के लिए इस प्रकार का रहा है वह निश्चय ही उसके सम्मान के दृष्टिकोण को विकसित करेगा और उसी अनुरूप व्यवहार भी करेगा। भारत में विचार के आधार पर सम्पूर्ण दर्शन विकसित हुआ।

राष्ट्र की उत्पत्ति और विकास-

आधुनिक काल में राष्ट्र को राज्य का पर्याय मान लिया गया है। जबकि ऐसा नहीं है। राष्ट्र के लिए राज्य के आवश्यक चारों अंगों में से मात्र तीन ही आवश्यक होते हैं और वे हैं- जनसंख्या, निश्चित भूभाग और सरकार, किन्तु राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सम्प्रभुता, वह राष्ट्र के लिए आवश्यक नहीं है। इसलिए भारत वैदिक काल से अनेक राज्यों में विभक्त होकर भी राष्ट्र था, क्योंकि राष्ट्र का आधार सरकार या सम्प्रभुता नहीं होती हैं, अपितु संस्कृति और भूभाग के प्रति आत्मीय भाव होता है, जैसा कि मैंने पूर्व में भी लिखा है कि भारत और इसके निवासियों में जो सम्बन्ध है वह माता और पुत्र का है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त कुछ इस प्रकार से इस विषय को प्रस्थापित करता है।

यस्यां समुद्र उत् सिन्धुरापो, यस्मान्नं कृष्टय: सम्बभूवु:।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत, सा नो भूमि: पूर्वपेये दधातु।।[12]

यानि,

जिस मातृभूमि के अंग उदधि लहराता,
सरिता करती कलगान सलिल छवि पाता।
खेती होती है, अभिमत अन्न उपजाता,
जिस पर जड़ जंगम विश्व सुहाता सजता।
यह प्राणि जगत भी जहां तृप्त है होता,
चलता फिरता है जहां बैठता सोता,
वह भूमि कृपा कर हमको वही, बसाये,
हम जहां प्रथम नित मधुर पेय इस पाएँ।

उपर्युक्त प्रार्थना के भाव से स्पष्ट है कि इस हिमालय से

लेकर उदधि यानि समुद्र के उस भाग में बसने की प्रार्थना है जहां पर सम्पूर्ण सुख समृद्धि हो साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्र की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। यह तो स्वाभाविक ही है कि सम्पूर्ण भारत में कई राज्य क्रियाशील रहे होंगे, किन्तु कवि ने प्रार्थना राज्य के रूप में नहीं अपितु राष्ट्र के रूप में की है, जोकि अविभाजित है।[13] यह भाव केवल संस्कृत वांग्मय में ही वर्णित नहीं है, अपितु विदेशी विद्वानों ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। विंसेट ए स्मिथ लिखते हैं कि ''समुद्रों एवं पहाड़ों से घिरा भारत निर्विवाद एक भौगोलिक इकाई है और इसे सही ही एक नाम दिया गया है।[14] स्मिथ साहब भी इस बात से परिचित थे कि भारत में अनेक राज्य क्रियाशील हैं, किन्तु उसकी राष्ट्रीय पहिचान भारत के रूप में ही है। भारत में इस राष्ट्रीयता का विकास युगों-युगों की स्वस्थ्य परम्परा के चलते हुआ था। यह वह परम्परा थी जिसने संस्कृति के आधार पर आर्थिक विकास की अवस्था को प्राप्त किया था। डॉ. रामविलास शर्मा अपनी चर्चित कृति 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' में लिखते हैं कि ''बहुजातीय राष्ट्र का अर्थ है ऐसा देश जहां अनेक भाषाएँ बोलने वाले रहते हों अनेक जातियों के लोग रहते हों, किन्तु उनमें राष्ट्रीय चेतना हो। यह चेतना हो कि हम सब लोग एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं ऐसी चेतना का विकास भारत में हुआ था।''[15] भारत के विषय में कई लोग यूरोप से तुलना करते हैं या इसे उपमहाद्वीप कहते हैं और तर्क देते हैं कि यहाँ पर भी अनेक जातियां रहती हैं और विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, किंतु वे यह भूल जाते हैं कि बहुजातीय राष्ट्र होने के बावजूद भी भारत और समस्त भारतीयों में आज तक एक राष्ट्रीय भाव विद्यमान है और यह भाव आज आनन-फानन में विकसित नहीं हुआ है। वैदिक काल से लेकर यह प्रक्रिया चलती रही है। महाभारत में इस विषय में संजय ने धृतराष्ट्र के पूछने पर भीष्मपर्व में विस्तार से समझाया है।'' इस देश में गंगा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, वितस्ता, सरयू, गोमती, कावेरी, आदि नदियाँ प्रवाहित हैं। इसमें पांचाल, शूरसेन, कोसल, कलिंग, विदर्भ, पुण्ड्र, निषाद, निषत्ना, कश्मीर, गान्धार, सिन्ध, सौपर्य, द्रविड़, केरल, कर्नाटक, चोल, पुलिक, पुलिन्द, कुलिन्द, कोंकण, आन्ध्र आदि अनेक जनपद हैं।[16] रामविलास शर्मा राष्ट्र के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं कि, समाज का अस्तित्व गण व्यवस्था में होता है। सामन्ती व्यवस्था में होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में होता है। ये सब समाज भिन्न प्रकार के होते है, फिर समाज कहलाते हैं, क्योंकि बहुत से मनुष्यों को एक साथ रहना, आर्थिक सांस्कृतिक सम्बन्धों से बँधे होना, समाज का सामान्य लक्षण है। ऐसे ही अनेक गणों, अनेक लघु जातियों, अनेक महाजातियों का राष्ट्र आन्तरिक रूप से भिन्न होते हुए भी इन सब इकाईयों के सम्बद्ध रहने, सहयोग करने के कारण राष्ट्र ही कहलाता है।[17] इस आधार पर भारत आदिकाल से ही परस्पर अवलम्बित होने के कारण एक राष्ट्र के रूप में शनैः-शनैः विकसित होता गया और आज भी यह परम्परा सतत् रूप से जारी है। सही मायनों में उपरोक्त समस्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र के लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्व है समान संस्कृति। यह सत्य है कि राज्य के लिए जैसे सम्प्रभुता आवश्यक है वैसे ही राष्ट्र के लिये संस्कृति। यह संस्कृति का भाव ही राष्ट्र के लिए सर्वाधिक पोषक तत्व है।

राष्ट्रीय अस्मिता पर विदेशी आक्रमण और भारतीय चेतना-

भारत की सांस्कृतिक और आर्थिक समृद्धि से प्रभावित होकर अनेक आक्रमण भारत पर हुए, किन्तु राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव के चलते वे या तो निष्क्रिय हो गये या भारत ने उन आक्रमण ाकारियों को अपने में समाहित कर लिया और इस प्रकार से कुछ मिश्रित जातियों का अभ्युदय हुआ। महाभारत में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। राष्ट्रीय चेतना का विकास वैदिक काल से लेकर पृथ्वीराज चौहान तक, सतत् चलता रहा।[18] कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि कौटिल्य के काल में सम्राट चन्द्रगुप्त ने ही सोलह महाजनपदों को एक सूत्र में पिरोकर एक शक्तिशाली राजनीतिक इकाई बनाने की कोशिश की थी, यह सत्य नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व भी अनेक प्रयत्न इस दृष्टिकोण से किये जा चुके थे। तब ही तो संस्कृत वांग्मय में अनेक ऐसे शब्द जिनका सम्बन्ध महान शक्तिशाली सम्प्रभु राज्यों से है आते हैं। जैसे- अधिराज यानि राजाओं राजकुमारों का राजा[19] इसी प्रकार राजाधिराज यानि राजाओं का राजा[20] सम्राट श्रेष्ठ सम्प्रभु शासक के लिए प्रयुक्त शब्द है। यह राजा से अधिक शक्तिशाली होता था।[21] अन्य भी अनेक प्रकार के राजाओं के विषय में शुक्रनीति, रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध हैं। इन वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि सांस्कृतिक इकाई के अतिरिक्त एक राजनीतिक इकाई के रूप में भी भारत प्राचीनकाल से ही या तो था या एक होने के सतत् प्रयास करता रहता था। यह प्रयास कौटिल्य के काल में प्रमुख रूप से उभरकर आया और काफी लम्बे समय तक भारत एक इकाई (राजनैतिक) के रूप में संगठित भी रहा।[22] इस प्रकार यह ध्यान में आता है कि भारत ने अपनी संस्कृति को न केवल भारत में अक्षुण्ण रखा बल्कि विदेशों में भी इसका प्रचार प्रसार किया उसी के परिण ामस्वरूप भारत पर विदेशियों ने आक्रमण की शृंखला प्रारम्भ की। 1757 का प्लासी का युद्ध भी इसी शृंखला का एक भाग है। 1191 से लेकर 1757 तक (प्लासी के युद्ध तक) भारतीय संस्कृति सुषुप्त रूप से आन्दोलन के माध्यम से संगठित एवं संरक्षित होती रही। राष्ट्रवाद की बयार धीमी ही सही, किन्तु बहती रही। राष्ट्रवाद का ज्वार थमा नहीं, लेकिन 1757 के युद्ध के बाद जो दुर्दमनीय व्यवहार अंग्रेजों ने भारतीयों पर किया उसने सम्पूर्ण मानवता को कलंकित किया। कैम्ब्रिज आर्थिक इतिहास के लेखक बी. चौधरी लिखते हैं कि (1769-70) बंगाल में जो अकाल पड़ा उस अकाल में आबादी

के लगभग एक तिहाई लोग काल का ग्रास बने।[23] रजनी पाम दत्त लिखते हैं कि मरने वालों की संख्या एक करोड़ के आस-पास थी फिर भी मालगुजारी न केवल वसूली गई, बल्कि उसमें बढ़ोत्तरी भी हुई।[24] परिणामस्वरूप बंगाल में असंतोष व्याप्त हो गया और अनेक स्थानों पर अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इनमें से एक संन्यासी विद्रोह भी था। यही संन्यासी विद्रोह बाद में चलकर प्रखर राष्ट्रवादी लेखक बंकिमचन्द्र चटर्जी की अमरकृति आनन्दमठ की विषय वस्तु बना।

बंकिम चन्द्र चटर्जी का परिचय-

वस्तुत: राष्ट्रीय चेतना भारत में कभी भी विलुप्त नहीं हुई थी इसका शाश्वत प्रवाह स्वत: स्फूर्त रूप से गतिशील रहता था। भारत की यह अद्‌भुत विशेषता है कि संस्कृति और राष्ट्रीय संकल्पना सदैव ही एक दूसरे के पूरक होकर कार्य करते हैं, किन्तु वाह्य आक्रमणों के समय या विदेशी आक्रान्ताओं के लम्बे प्रभाव के चलते इस चेतना को जो कि अन्त: प्रवाहित रही है, को सतह पर लाना पड़ा है। मध्य काल में यह कार्य भक्ति आन्दोलन के माध्यम से सम्पादित किया गया। आदिकाल में भी ऋषि मुनियों ने ही इस व्यवस्था को स्थापित किया था। वही, प्रक्रिया मध्यकाल और आधुनिक काल में भी सक्रिय रही। उसी श्रेणी के आधुनिक काल के राष्ट्रवादियों ने संस्कृति को आधार मानकर राष्ट्रीय चेतना का पुन: संचार किया और भारतीय जनमानस को न केवल स्वतन्त्रता के संघर्ष के लिए अभिप्रेरित किया, बल्कि भारत का स्वरूप कैसा हो, भारत के साथ हमारा भाव एवं सम्बन्ध कैसा हो, कि दिशा में सोचने और उसे व्यवहार में लाने के उपायों पर भी बल दिया। इनके वैचारिक आन्दोलन ने न केवल भारतीयों अपितु ब्रिटिशर्स को भी उद्वेलित कर दिया।

वस्तुत: बंकिमचन्द्र चटर्जी सरकारी महकमे में कार्यरत थे और भारतीय इतिहास से सम्बन्धित साहित्य का सृजन करते थे। आपने अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि की सांस्कृतिक रचनाएं की, किन्तु प्रसिद्धि मिली इनकी कालजयी कृति 'आनन्दमठ' से। आनन्दमठ, 1773 में उत्तरी बंगाल में, जो संन्यासी विद्रोह हुआ था, से अभिप्रेरित है। इस उपन्यास में बंकिमचन्द्र ने संन्यासियों के माध्यम से वो सब कहलवा दिया जिसको कि कहना एक सरकारी आदमी के लिए सहज नहीं था। इस उपन्यास में उन्होंने समाज संस्कृति और सत्ता के मध्य अद्‌भुत समन्वय बनाने की कोशिश की है। सुप्रसिद्ध बांग्ला इतिहासकार सुकुमार सेन लिखतें हैं कि ''बंकिमचन्द्र अंग्रेजी राज्य के कोई बहुत बड़े प्रेमी नहीं थे, जो राष्ट्रीय आंदोलन शक्ति संचित कर रहा था, इसके प्रति भी वे अचेत नहीं थे।'' परिणामस्वरूप ''आनन्दमठ'' देश भक्ति का पर्याय बन गया और उसने बंगाल को वन्देमातरम् गीत दिया और यह गीत राष्ट्रीयता का मन्त्र बन गया, इस रूप में यह बंकिमचन्द्र की जीवन्त रचना है।[25] यद्यपि संगठित रूप से वन्देमातरम् की स्वीकार्यता पर प्रश्नचिह्न रहा है, किन्तु भारतीय राष्ट्रीय चेतना ने सदैव ही इसको मन प्राण का गीत माना है। इस गीत ने न केवल बंगाल को अपितु संपूर्ण भारत को ही झकझोर दिया। राष्ट्रवादियों विशेषकर सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों के लिए तो यह अग्रिम श्रेणी का गीत बना। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि अंग्रेजों के प्रति संन्यासी विद्रोह एक ही दिन में नहीं पनप गया था, यह पनपा था शनै:-शनै: अंग्रेजों की बढ़ती जा रही कुत्सित नीतियों के विरोध में और अंग्रेजों की प्रगतिशील भूमिका के प्रतिशोध के रूप में। अंग्रेजों की इस भूमिका ने संपूर्ण समाज को उद्वेलित करके रख दिया था इसलिए जैसे ही आनन्दमठ प्रकाशित हुआ वैसे ही जनता को अपना अभीष्ट मिल गया। डॉ. रामविलास शर्मा इस सम्बन्ध में बहुत ही क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत करते है, वे कहते है कि ''संन्यासी विद्रोह नवजागरण का स्रोत जनता की सशस्त्र कार्यवाही के बल पर बना, लेखकों, पुस्तकों व्याख्यानों के बल पर नहीं।'' अवश्य ही उन लेखों, पुस्तकों और व्याख्यानों के लिए प्रेरणास्वरूप बंगाल में दो तरह के नवजागरण हुए-

1. अंग्रेजी राज बना रहे, उसमें रहते हुए हम शान्तिपूर्वक समाज सुधार करते रहें।
2. अंग्रेजी राज में लाखों आदमी दम तोड़ रहे है, इस राज को हर सम्भव उपाय से खत्म करो। पहले वाले नवजागरण की चर्चा बहुत कम होती है। इस चर्चा में अकाल में मरने वालों का जिक्र कम ही आता है। साम्राज्य विरोधी आन्दोलन से उसका प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध हो यह भी दिखायी नहीं देता। इसके विपरीत दूसरा नवजागरण स्वाधीनता आन्दोलन से सीधा जुड़ा हुआ है। उन दोनों को भुला देना हैं।[26] डॉ. शर्मा ने संपूर्णता में विश्लेषण किया है, दोंनों कारणों का पहला कारण तो चर्चा में इसलिए रहता है क्योंकि इससे अंग्रेजों का महिमामण्डन होता है और समाज की प्रगतिशील भूमिका उजागर होती है, किन्तु दूसरे कारण का जिक्र इसलिए नहीं किया जाता, क्योंकि इससे अंग्रेजो का वीभत्स चेहरा उजागर होता है और भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पुनर्स्थापना पर बल दिया जाता है। भारत की जनता का भारत भू-भाग से माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित होता है। यही बात आधुनिक बुद्धिजीवियों को स्वीकार नहीं है। इसलिए ही समस्त सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों को नेपथ्य में धकेल दिया गया है और तथाकथित प्रगतिशीलों को परिदृश्य पर स्थापित किया जाता रहा है। इसलिए आनन्दमठ ने जहाँ एक ओर कांग्रेस के आन्दोलन को प्रेरणा दी वही, दूसरी ओर नवयुवकों को सशस्त्र क्रांति के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार से बंकिम के विचारों ने चहुँ ओर वैचारिक सैलाब दिया। इस सम्बन्ध में सुकुमार सेन[27] की टिप्पणी को मैं यहाँ पर उद्धृत करना समीचीन समझता हूँ। आनुषांगिक रूप से उसने राष्ट्रीयता और देशभक्ति की विभिन्न कार्यवाहियों को

जबर्दस्त प्रेरणा दी जिनकी परिणति उस क्रान्तिकारी (क्रान्तिकारी शब्द मेरा अपना है) आन्दोलन से हुई जो बीसवीं सदी के पहले दशक में बंगाल में शुरू किया गया। यानि बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन में आनन्दमठ का सीधा सम्बन्ध है, वह आन्दोलन उस कृति के प्रभाव की चरम परिणति है। संन्यासी विद्रोह बंगाल के एक भाग तक सीमित था, इससे उसका राष्ट्रीय महत्व कम नहीं होता। ठीक ही तो है कि संन्यासी विद्रोह हुआ तो उत्तर बंगाल में था किन्तु उसने सम्पूर्ण भारत में मार्गदर्शक की भूमिका निर्वहन की और उस पर आधरित कालजयी कृति ''आनन्दमठ'' और उसमें लिखित गीत वन्देमातरम् ने नवयुवकों को ही नहीं अपितु बाल-वृद्ध-नारी तक में रक्तसंचार को तेज कर दिया। यह मात्र गीत ही नहीं था, अपितु भारतीय जनमानस की मानसिकता की अभिव्यक्ति थी, कि वह भारत को अपने जीवन में कैसा समझते और अंगीकार करते हैं। साथ ही वह भारत के उन अनपढ़ मजदूर, किसान और समस्त जनता की चेतनाशक्ति थी जिन्होंने अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के 63 श्लोकों को न तो पढ़ा ही था और न समझा ही था। उन सबने इस गीत के माध्यम से स्वयं को एकात्म कर लिया था। सभी मायनों में यह गीत पृथ्वी सूक्त का जनभाषा में प्रकटीकरण था।[28] वन्देमातरम् की व्याख्या बंकिमचन्द्र ने इस गीत को जिसे संन्यासी भवानन्द ने गाया है वह बहुत ही समर्पित एवं भारत भूमि के प्रति अद्भुत श्रद्धाभाव रखने वाला जीव है। वह महेन्द्र से कहता है कि ''हम लोग किसी अन्य माँ को नहीं मानते। "जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" हमारी माता और जन्मभूमि ही हमारी जननी है- हमारे न माँ है न पिता है, न भाई है- कुछ नहीं है, स्त्री भी नहीं, घर भी नहीं, मकान भी नहीं, अगर कोई है तो वही, सुजला, सुफलां, मलयजशीतलाम् शस्यश्यामलां.....। तब महेन्द्र भाव को समझकर भवानन्द से फिर गाने को कहता है। भवानन्द अब पूरे गीत को तन्मयता से गाता है। इस गीत के कुल चार चरण है। इन चारों चरणों में भारत माता के स्वरूप और स्वभाव तथा उससे अपेक्षाओं का वर्णन है। प्रथम चरण में भारत माता का मूल स्वभाव एवं स्वरूप कैसा है, का वर्णन है-

वन्दे मातरम्
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम्।
शुभ्रज्योत्स्नां-पुलकित यामिनीम्
फुल्लकुसुमित - द्रुमदलशोभनीम्
सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीम्
सुखदां वरदां मातरम्
वन्दे मातरम् .....।

दूसरे चरण में भारत की जनसंख्या 1769-70 में लगभग सात करोड़ के आस पास ही रही। होगी। ये सात करोड़ जनता इस भारत माता से क्या अपेक्षा करती है। अंग्रेजों की कुत्सित नीतियों और दमनकारी व्यवहार ने भारतीयों की जो दुर्दशा की थी उसने पीड़ित होकर भारत माता से जो विनती की वह इसमें परिलक्षित होती है। यद्यपि यह गीत बंगाल के सन्दर्भ में ही गाया गया था, किन्तु भाव और पीड़ा सम्पूर्ण भारत की समाहित थी

सप्तकोटिकण्ठ-कलकल निनाद कराले,
द्विसप्तकोटि भुजैधृतखरकरवाले,
अवला केनो माँ तुमि एतो वले।
वहुबलीधारिणीं नमामि तरिणीम्
रिपुदलवारिणीं मातरम्।।
वन्दे मातरम्.....।

तीसरे चरण में माता के सम्मुख पुत्र के दीनभाव का वर्णन है। पुत्र जब अक्षम होता है तो माता से कैसी दया की याचना करता है, का वर्णन इसमें बहुत ही सटीक रूप से किया गया है। वह कहता है-

तुमि विद्या, तुमि धर्म,
तुमि हृदि, तुमि कर्म,
त्वं हि प्राणः शरीरे।
बाहुते तुमी माँ शक्ति,
हृदये तुमी माँ भक्ति
तोमाराई प्रतिमा गढ़ी मन्दिरे-मन्दिरे।
त्वं हि दुर्गा दषप्रहरणधारिणीं
कमला कमल-दल विहारिणी
वाणी विद्यादायिनीं नमामि त्वां,
नमामि कमलां, अमलाम् अतुलाम्,
सुजलां, सुफलां, मातरं, वन्दे मातरम्।।
ष्यामलां,सरलां, सुस्मितां, भूषिताम्,
धरणीं, भरणीं मातरम्। वन्दे मातरम्।।[29]

इस गीत के माध्यम से महेन्द्र जो कि 'आनन्दमठ' का केन्द्रीय पात्र है यह समझने का प्रयास करता है कि आखिर यह भारत माता है कौन और इसकी सन्तान कौन है। उसकी यह भी समझ में नहीं आता है कि अभी-अभी इन्होंने जो लूट की है, गाड़ी लूटी है, राजा के रुपए लूटे हैं', ऐसा क्यों किया है। क्या पुत्र चोरी डकैती से माता की पूजा करते हैं। ''भवानन्द महेन्द्र को समझाते हैं।'' देखो साँप मिट्टी में अपने पेट को घसीटता हुआ चलता है, उससे बढ़कर तो शायद ही कोई न होगा, लेकिन उसके शरीर पर पैर रख देने पर वह फन काढ़ लेता है। तुम लोगों का धैर्य क्या किसी तरह नष्ट नहीं होता। देखो कितने देशी शहर हैं, मगध, मिथिला, काशी, करांची, दिल्ली, कश्मीर उन जगहों की ऐसी दुर्दशा है? किस देश के मनुष्य भोजन के अभाव में घास खाते हैं? किस देश की जनता कांटे खाती है, लता-पात खाती है? किस देश के मनुष्य

सियार, कुत्ते और मुर्दे खाते हैं? यह जो भयावहता है सम्भवत: उसी ने शस्यशयामला भारत माता की लेखक ने दुर्गा के रूप में स्तुति की, जो कि शत्रुविनाशक है। यह वही, कल्पना है जो कि तुलसी मुगलकाल में प्रभु राम को राजा राम के रूप में करता है, क्योंकि कही और से कल्याण की आशा नहीं है। ठीक वैसा ही बंकिम भारत माता से प्रार्थना करते हैं कि तू ही दुर्गा दसों हाथों में अस्त्र-शस्त्र धरण करने वाली है अब तू ही भारत और भारतीयों का कल्याण कर सकती है।

मूलत: 1757 के बाद की घटना है संन्यासी विद्रोह, किन्तु उपन्यास का लेखन 1882 में (1857 के लगभग 25 वर्ष बाद) बंकिम करते हैं। और 1769-70 के काल से 1882 तक काफी जल गंगा-जमुना मे वह गया था। अंग्रेजों का शोषण भी कम होने के स्थान पर और बढ़ा ही था। परिणाम स्वरूप बंकिम बाबू जैसा विनम्र, किन्तु दृढ़ सरकारी कर्मचारी 'आनन्दमठ' के सृजन की कल्पना को न केवल साकार कर सका बल्कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को वन्दे मातरम् के माध्यम से स्वर भी दे पाया और 1882 के बाद का भारत अनेक प्रकार से इससे पूर्व के भारत से भिन्न भारत के रूप में उपस्थित हुआ। 1882 'आनन्दमठ' के लेखन के ठीक तीन वर्ष बाद यानि 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने भी आनन्दमठ के ताप को समझा और सामाजिक रूप से ही सही भारतीय जनता को सत्ता का हमराह बनाया। डॉ. राम विलास शर्मा इसको बहुत ही अच्छी प्रकार से समझाते हैं कि ''विद्रोह संन्यासियों की चेतना उस नवजागरण से हटकर है जो अध्यात्मवाद को भारत की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानता है और सांसारिक प्रपंच से उदासीन रहा ब्रह्म-चिन्तन का उपदेश देता है। अंग्रेजी राज से पहले जैसे सन्तों के लिए ईश्वर ही माता-पिता, सब कुछ था, वैसे ही इन संन्यासियों के लिए मातृभूमि ही माता-पिता सब कुछ है।''[30]

इस प्रकार से आनन्दमठ ने न केवल क्रान्तिकारियों के लिए एक वैचारिक धरातल प्रदान किया बल्कि उनको सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावभूमि के लिए भी तैयार किया। जिसे वे अपने सम्बन्धों को भारत भूमि के साथ जोड़कर विश्लेषण कर सकें और तदनुरूप अपनी भूमिका निर्वहन करें। आनन्दमठ ने तत्कालीन समाज को ही नहीं, अपितु आने वाली पीढ़ियों को भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रति उद्वेलित करके रख दिया। आज भी वन्दे मातरम् का गायन जो कि संस्कृति से अभिप्रेरित है, राष्ट्रवाद का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार से 19 वीं सदी के अन्त में लिखे गए इस परमयशस्वी गीत ने भारत की भावी पीढ़ी को लम्बे समय तक न केवल प्रभावित किया, बल्कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी इसके प्रभाव से अपने को अछूता न रख सकेगीं।

इस प्रकार इस गीत के माध्यम से भवानन्द ने सम्पूर्ण भारत का एक रेखाचित्र खींच दिया और भारतीयों की भारत माता से क्या अपेक्षा हैं, यह भी सुनिश्चित कर दिया। राष्ट्रगीत के उद्गाता बंकिमचन्द्र चटर्जी का जन्म 27 जून 1838 को कांटलपारा ग्राम, जिला 24 परगना में हुआ था। इनके पिता यादवचन्द्र चटर्जी सरकारी सेवा (कम्पनी शासन) में डिप्टी कलेक्टर थे और मिदनापुर में सेवारत थे। चटर्जी ने मिदनापुर में अपनी शिक्षा पूर्ण करके हुगली के मोहसिन कॉलेज में प्रवेश लिया और छ: वर्ष तक अध्ययन किया। वे पठन-पाठन के बेहद शौकीन थे, विशेषकर संस्कृत साहित्य के प्रति इसी रुझान ने उनको साहित्यसृजन में बहुत मदद की 1858 में उन्होंने कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया। उन्होंने 1859 में बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर कलकत्ता के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने उन्हें 1859 में ही डिप्टी कलेक्टर नियुक्त कर दिया। उन्होंने 32 वर्षों तक सरकारी सेवा की और 1891 में अवकाश ग्रहण किया।

यद्यपि चटर्जी के अध्ययन के दौरान ही 1857 का महान स्वतन्त्रतासंग्राम लड़ा गया, किन्तु उन्होंने अपने अध्ययन को पूर्ण किया। सरकारी सेवा के अनुभव और संस्कृत साहित्य के अध्ययन ने उन्हें विश्लेषणात्मक दृष्टि प्रदान की परिणामस्वरूप 1882 में उन्होंने अपने भावों को 'आनन्दमठ' के माध्यम से अभिव्यक्त किया। 1882 में लिखा गया यह उपन्यास सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से मील का पत्थर सिद्ध हुआ। भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के क्षेत्र में इसने अनेकानेक महापुरुषों को प्रेरित किया।

सन्दर्भ:-

1. राधाकुमुद मखर्जी, भारत की आधारभूत एकता, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली 2010 ,पृ.15 ।
2. तदेव पृ. 15 ।
3. महर्षि वेदव्यास, विष्णु पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, द्वितीय अध्याय , प्रथम श्लोक।
4. अथर्ववेद - 12/1/12 ।
5. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, चौबीसवें वर्ष का विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर , पृ. 24 ।
6. भारतरत्न पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान 2010, पृ. 393 ।
7. ईशावास्यमिदं सर्वम् ईशावास्योपनिषद्, प्रथम मन्त्र ।
8. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, चौबीसवें वर्ष का विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर , पृ. 24 ।
9. शिवपुराण दशम भाग, 2/12 ।
10. महाभारत, भीष्म पर्व-अध्याय 9/11 ।
11. विश्वामित्रस्मृति, 44वाँ श्लोक, प्रथमाध्याय ,स्मृतिसन्दर्भ, नाग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. 2649।
12. अथर्ववेद 12/1/3 ।
13. अथर्ववेद 12/1/4 ।
14. राधाकुमुद मुखर्जी, भारत की आधारभूत एकता, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 32 ।
15. डॉ. राम विलास शर्मा, भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 1992 पृ. 88 ।

शेष पृष्ठ 48 पर